THE ECONOMIC TIMES

Date: 15-07-17

Pahlaj Nihalani, censor-in-chief?

ET Editorials

Nobel Prize-winning economist Amartya Sen's views on politics in general, and on the ruling dispensation at the Centre, which is also the ruling dispensation in 13 states, are no secret. These views are aired off and on, both by Prof Sen and by likeminded individuals, ranging across the dominant themes of Indian politics. Outrage on social media over the temerity of a mere intellectual to question the authenticity and wisdom of popular choice in India has accompanied such views, as well. Sen's exit from his pet project, the Nalanda University, did not embarrass the government or prevent the BJP from sweeping the Uttar Pradesh and Uttarakhand elections.

So, when the Central Board of Film Certification (CBFC) seeks to eliminate words that it thinks would offend the powers that be, was its chief Pahlaj Nihalani carrying out the mandate of those who appointed him? Or was he merely strutting like the rooster who imagines his rousing call makes the sun rise in the morning? What has Nihalani achieved? He has once again given grist to the intolerance mill. Sen being the academic of global stature that he is, seeking to gag his opinion and, childishly, to eliminate references to the cow and to Gujarat from a documentary on Sen, has drawn global attention to the state of free speech and expression in the world's largest democracy. Does Nihalani imagine he would be rewarded for his exemplary loyalty? Indians, in other words, remain at risk (sundry newspaper, online forum of TV channel could expose them to toxic words such as cow) and, at the same time, Nihalani's exertions have brought to the government criticism on curtailment of freedom of expression and censorship. Nihalani should, perhaps, stick to his usual turf, of guarding tender Indian morals from anatomical liberties on celluloid.

दैनिक भास्कर

Date: 15-07-17

मोदी और शी फिर झूला झूलें, बात करें

वेदप्रताप वैदिक (ये लेखक के अपने विचार हैं।)

पिछले लगभग एक माह से भारत और चीन की फौजें आमने-सामने हैं। उन्होंने एक-दूसरे की सीमाओं का उल्लंघन नहीं किया है बल्कि भूटान के दोकलाम नामक एक पठार को लेकर दोनों देशों के फौजियों के बीच धक्का-मुक्की और कहा-सुनी हुई है। गनीमत है कि तोपें और बंदूकें नहीं चली हैं। भारत-चीन की सीमाएं हजारों किमी में फैली हुई हैं और सैकड़ों बार दोनों देशों की फौजें जाने-अनजाने उनका उल्लंघन करती रहती हैं लेकिन, उनमें मुठभेड़ की नौबत प्रायः नहीं आती। 1987 में अरुणाचल के सुमदोरोंग चू इलाके में मुठभेड़ की स्थिति बनी थी लेकिन, उसे

बातचीत के जरिये हल कर लिया गया था। भारत-चीन सीमा-विवाद पर शांतिपूर्ण मर्यादित व्यवहार कैसे किया जाता है, यह उदाहरण मैं पाकिस्तानी नेताओं, फौजियों और कूटनीतिज्ञों को अक्सर देता हूं लेकिन, इस बार दोकलाम-विवाद ने दूसरा ही चित्र उपस्थित कर दिया है।यह दोकलाम-विवाद है,क्या? दोकलाम लगभग 250 किमी का वह पठारी इलाका है, जो भूटान की सीमा में है। यह तिब्बत, भूटान और सिक्किम के त्रिभुज के कंधे पर स्थित है। यह अत्यंत सामरिक महत्व का स्थान है। चीन वहां ऐसी सड़कें बना रहा है, जिस पर 40-40 टन के टैंक भी चल सकें। यदि इस पठार पर चीन का कब्जा हो गया तो भारतीय सीमाओं में घुस जाना उसके लिए बाएं हाथ का खेल होगा। वह चुम्बी घाटी पार करके मिनिटों में सारे उत्तर-पूर्व के प्रांतों को भारत से काट सकता है। भूटान का कहना है कि दोकलाम में सड़क बनाकर चीन 1988 और 1998 में हुए समझौतों का उल्लंघन कर रहा है। उन समझौतों में यह तय हुआ था कि जब तक यह सीमा-विवाद हल नहीं हो जाता, चीन यथास्थिति बनाए रखेगा लेकिन, चीन कहता है कि 1890 में जो ब्रिटिश-चीन समझौता हुआ था, उसमें यह क्षेत्र चीन का है। इसीलिए चीन अब इस भारतीय हस्तक्षेप को चीन की संप्रभुता का उल्लंघन मानता है।

दोकलाम पठार पर अपने कब्जे को चीन ने अपनी इज्जत का सवाल बना लिया है। वह भारत से कोई भी बात करने के लिए तब तक तैयार नहीं है, जब तक कि भारत वहां से अपनी फौजें न हटा ले। वह खुद जमा रहे और भारत हट जाए। इतना ही नहीं, उसने कैलाश-मानसरोवर की तीर्थ-यात्रा स्थगित कर दी। वर्षों से तीर्थ-यात्रा की तैयारी कर रहे भारतीयों ने यह अजीब-सा धक्का महसूस किया। चीनी सरकार के प्रवक्ताओं ने ऐसे तेजाबी बयान जारी किए हैं कि मानो दोकलाम को लेकर चीन युद्ध के लिए तैयार है। रक्षा मंत्री अरुण जेटलीने सिर्फ इतना कहा था कि यह 1962 नहीं, 2017 है। इस पर चीनी प्रवक्ता ने 1962 में हुए भारत-चीन युद्ध का हवाला देते हुए अत्यंत उत्तेजक और आपत्तिजनक बयान दे डाले। आश्चर्य है कि अभी तक दोनों देशों के बीच कोई कूटनीतिक वार्ता तक नहीं चली है। दिल्ली और बीजिंग, दोनों जगह दूतावास हैं और उनका उन देशों की सरकारों से इस मुद्दे पर कोई संवाद नहीं है। हमारी राष्ट्रवादी सरकार के पास ऐसे स्वतंत्र विशेषज्ञों का भी टोटा है, जो चीनी नीति-निर्माताओं से सीधे संपर्क कर सकें। पिछले सप्ताह जर्मनी के हेम्बर्ग में हुए जी-20 सम्मेलन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और चीनी राष्ट्रपति शी जिन पिंग मिले और इस मिलन को हमारे विदेश मंत्रालय ने जबर्दस्त तूल दे दिया, जबकि चीनी प्रवक्ता ने सारे प्रचार पर पोंछा लगाते हुए कह दिया कि दोनों नेताओं के बीच कोई बैठक नहीं हुई। यानी औपचारिक सलाम-दुआ को ही हम 'कई मुद्दों पर बात' कहकर प्रचारित करते रहे। उधर बीजिंग से गोलाबारी जमकर जारी है। चीनी अखबार और प्रवक्ता भारत पर आरोप लगा रहे हैं कि वह चीन को बदनाम करके उसकी 'वन बेल्ट, वन रोड' योजना को विफल करना चाहता है। मोदी और ट्रम्प की मिलीभगत है कि चीन को नीचा दिखाया जाए। चीन ने मलाबार में चल रहे भारत, अमेरिका और जापान के सामूहिक सैन्य-अभ्यास पर भी छींटाकशी की है। उसके एक अखबार ने यह भी कहा है कि जैसे भूटान का बहाना बनाकर दोकलाम में भारत ने अपनी फौज अड़ा दी है, वैसे ही पाकिस्तान के निमंत्रण पर चीन भी अपनी फौज 'आजाद कश्मीर' में अड़ा सकता है। चीन के सरकारी अखबार 1962 के युद्ध के कई चित्र और लेख दुबारा छाप रहे हैं। चीनी विश्वविद्यालयों के कई समझदार और संतुलित विशेषज्ञ, जिन्हें मैं व्यक्तिगत तौर पर जानता हूं, वे भी भड़काऊ लेख लिख रहे हैं।

जहां तक भारत का सवाल है, हमारे प्रधानमंत्री, विदेश मंत्री और विदेश मंत्रालय ने काफी संयम बरता है। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का कहना है कि दोकलाम पर चीन के साथ भूटान को ही निपटने दिया जाए (हम क्यों अपनी टांग फंसाएं?) न वह हमारा क्षेत्र है, न हमारी सीमा! मार्क्सवादियों का यह तर्क ऊपरी तौर पर ठीक लगता है लेकिन, भूटान और भारत में क्या फर्क है? यह ठीक है कि भूटान एक स्वतंत्र और संप्रभु राष्ट्र है लेकिन, भूटान की सुरक्षा भारत की सुरक्षा है। चीन के साथ तो भूटान के कूटनीतिक संबंध भी नहीं हैं। दोकलाम में जो चीनी सड़क बन रही है, वह व्यापार और परिवहन के काम आ सकती है लेकिन, उसका असली उपयोग तो सामरिक है। यदि भारत को उसकी चिंता नहीं होगी तो किसको होगी? इस समय चीन भूटान में ही नहीं, नेपाल, बांग्लादेश, बर्मा और श्रीलंका में भी सड़कों और बंदरगाहों का जाल बिछा रहा है। पाकिस्तान के ग्वादर में पहले से ही काम चल रहा है।ये वे सब क्षेत्र हैं, जिनके बारे में भारत के वायसराय लार्ॅड कर्जन ने 1902 के अपने एक प्रसिद्ध भाषण में कहा था कि ये सब भारत के आज्ञा-क्षेत्र में हैं। भारत की अनुमति के बिना इस क्षेत्र में किसी पंछी को पर मारने की भी इजाजत नहीं होनी चाहिए। यदि भारत कह रहा है कि आप यथास्थिति बनाए रखिए तो ऐसा कहकर वह कौन-से युद्ध के ढोल बजा रहा है? जाहिर है कि

चीन की सैन्य-क्षमता भारत से ज्यादा है लेकिन भारत भी परमाणु शक्तिसंपन्न राष्ट्र है। इसके अलावा चीन अब माओ का झगड़ालू चीन नहीं रह गया है, जो कोरिया, वियतनाम, जापान, कंपूचिया, रूस और भारत जैसे पड़ोसियों से उलझता रहे। यह तंग श्याओ पिंग और शी जिनपिंग का चीन है, महाजन देश है, व्यापारिक राष्ट्र है। वह दोकलाम को लेकर युद्ध के नगाड़े क्यों बजा रहा है? शी को चाहिए कि मोदी के साथ वे फिर झूला झूलें, बात करें और दोकलाम का हल निकालें।

दैनिक जागरण

Date: 15-07-17

जल-जीवन से खिलवाड़

देश के लगभग आधे महानगरों में सीवर प्रणाली का अभाव यदि कुछ स्पष्ट कर रहा है तो यही कि राज्य सरकारें और शहरी निकाय अपना जरूरी काम करने से इन्कार कर रहे हैं। समस्या केवल महानगरों को कारगर सीवर प्रणाली से लैस करने में बरती जा रही लापरवाही की ही नहीं, बल्कि इसकी भी है कि बारिश के मौसम में जब तमाम शहरों के सीवेज शोधन संयंत्र खराब हो जाते हैं तो उन्हें तत्काल ठीक करने के बजाय गंदगी खुले में बहा दी जाती है। यह जानबूझकर बीमारियों को निमंत्रण देने वाला कृत्य है। यह किसी अपराध से कम नहीं कि यह काम वर्षों से हो रहा है और फिर भी चेतने से इन्कार किया जा रहा है। एक आंकड़े के अनुसार देश में करीब चार हजार शहर ऐसे हैं जहां प्रभावी सीवर प्रणाली नहीं। इसका मतलब है कि शहरों को दुर्दशा में धकेला जा रहा है। स्थिति कितनी दयनीय है, यह इससे समझा जा सकता है कि देश की राजधानी दिल्ली तक में बाढ़ के पानी के साथ मलमूत्र को यमुना में बहा दिया जाता है। यह सहज ही समझा जा सकता है कि जब महानगरों में सीवर प्रणाली को लेकर ऐसी बदइंतजामी देखने को मिल रही है तो फिर छोटे शहरों में क्या होता होगा, जहां सीवेज शोधन संयंत्र या तो हैं नहीं या फिर वे पूरी क्षमता से काम नहीं करते। स्पष्ट है कि बारिश के दिनों में जलजनित बीमारियों का प्रकोप बढ़ने की एक बड़ी वजह शहरी निकायों का नाकारापन है।नि:संदेह बात केवल सीवर प्रणाली की अनदेखी की ही नहीं, बल्कि कचरे का सही तरह निस्तारण न किए जाने की भी है। दरअसल यही कारण है कि स्वच्छता अभियान अपेक्षित सफलता हासिल नहीं कर पा रहा है। यदि शहरी निकायों के रंग-ढंग नहीं बदले तो स्मार्ट सिटी का सपना पूरा होना तो दूर रहा, शहरों में रहन-सहन के स्तर में सुधार करना भी मुश्किल है। ऐसा लगता है कि राज्य सरकारों को इसकी कहीं कोई परवाह नहीं कि शहरी निकाय लोगों के जीवन से खिलवाड़ कर रहे हैं। इससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि केंद्र सरकार जवाहरलाल नेहरु नेशनल अर्बन रिन्यूवल मिशन के तहत कई शहरी निकायों को सीवर लाइन बिछाने के लिए वित्तीय सहायता दे रही है, क्योंकि ज्यादातर राज्यों की इसमें दिलचस्पी नहीं कि यह काम तय समय में सही तरह से पूरा हो और सीवेज शोधन संयंत्र अपनी पूरी क्षमता से काम करें। इस मामले में धन के अभाव से ज्यादा बड़ी समस्या इच्छाशक्ति में कमी की है। यही कमी नदियों को साफ-सुथरा बनाने में बाधक साबित हो रही है। यदि नदी तट वाले शहरों के स्थानीय निकाय सीवर प्रणाली से लैस नहीं होते और सीवेज शोधन संयंत्रों को सही तरह नहीं चलाते तो नदियों के प्रदूषण को दूर करने का लक्ष्य भी अप्राप्य ही रहने वाला है। इसमें संदेह है कि राष्ट्रीय हरित प्राधिकरण की ओर से हरिद्वार से उन्नाव तक गंगा तट के सौ मीटर इलाके में निर्माण कार्यों को प्रतिबंधित कर पांच सौ मीटर के दायरे में कचरा डालने पर जुर्माना लगाने के जो आदेश दिए गए हैं उससे गंगा प्रदूषण मुक्त हो जाएगी। उसे यह पता होना चाहिए कि तमाम कल-कारखाने अभी भी गंगा में गंदगी उड़ेल रहे हैं।

जनसत्ता

Date: 14-07-17

गंगा की सुध

राष्ट्रीय हरित अधिकरण (एनजीटी) ने हरिद्वार से उन्नाव तक गंगा तट से पांच सौ मीटर की दूरी तक कचरा डालने पर पचास हजार रुपए का जुर्माना लगाने का आदेश दिया है। एनजीटी ने गुरुवार को दिए एक विस्तृत फैसले में केंद्र सरकार को भी निर्देश दिया कि वह गंगा सफाई अभियान पर अब और पैसा खर्च न करे। यह फैसला केंद्र और राज्य सरकारों के कामकाज पर भी सवालिया निशान लगाता है। मगर फैसले का त्रासद पहलू यह भी है कि सुनवाई पूरी होने में इकतीस साल से ज्यादा का वक्त लग गया। अब क्रियान्वयन पर कितना वक्त लगेगा? देश में नदियों की बदहाली को लेकर मुद्दा लंबे समय से जेरे-बहस है। लेकिन जिस ईमानदारी और विश्वसनीयता से कार्य होना चाहिए था, वह कहीं दिखाई नहीं देता। सरकारें गंगा को लेकर चिंतातुर भले दिखती हों, मगर हकीकत यह है कि गंगा की सफाई को लेकर जितनी राशि पिछले तीन दशक में खर्च की गई है वह अपने आप में भ्रष्टाचार की एक अलग ही कहानी है। इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि आखिरकार एनजीटी को खर्च रोक देने का आदेश देना पड़ा है।

एनजीटी ने हरिद्वार से उन्नाव तक सौ मीटर की दूरी को 'नो-डेवलपमेंट जोन' घोषित करते हुए पांच सौ मीटर की दूरी तक कचरा वगैरह डालने की मनाही की है। यह लंबाई करीब पांच सौ किलोमीटर है। कचरा फेंकने वाले को पचास हजार रुपए का जुर्माना देना होगा। अधिकरण ने इसके लिए एक निगरानी समिति का गठन किया है। हरिद्वार उत्तराखंड में और उन्नाव उत्तर प्रदेश में है। दोनों सरकारों से कहा गया है कि वे दो साल के अंदर जलमल शोधन संयंत्र लगा लें तथा जलमल निकासी की समुचित व्यवस्था कर लें। साथ ही छह महीने के भीतर जाजमऊ के चमड़ा कारखानों को उन्नाव या कहीं दूसरी जगह स्थानांतरित करने के लिए भी कहा गया है। याचिकाकर्ता ने 1985 में यह अपील दाखिल की थी, जिसे 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने एनजीटी को सुनवाई के लिए भेज दिया था। एनजीटी ने याचिकाकर्ता की सीबीआई या कैग से जांच की मांग पर कुछ नहीं कहा, लेकिन माना कि इस पर अब तक सात हजार करोड़ रुपए से अधिक खर्च हो चुका है।

असल में गंगा सफाई का काम सबसे पहले राजीव गांधी के कार्यकाल में करीब नौ सौ करोड़ रुपए के बजट से 'गंगा कार्य योजना' नाम से शुरू हुआ था। मौजूदा केंद्र सरकार 'नमामि गंगे' नामक एक विस्तृत परियोजना चला रही है, जिसका बजट बीस हजार करोड़ रुपए रखा गया है। जल संसाधन, नदी विकास और गंगा सफाई नाम से अब एक अलग मंत्रालय है। मगर, गंगा सफाई की वास्तविकता क्या है, यह किसी से छिपा नहीं है। एनजीटी का फैसला सरकारों के लिए एक गंभीर चेतावनी है। अगर अब भी सरकारों की आंख खुल जाए और वे पारदर्शिता व जिम्मेदारी के साथ गंगा सफाई अभियान को सफल बनाने में जुट जाएं तो देर से ही सही एक महत्त्वाकांक्षी योजना को साकार किया जा सकता है। आखिरकार गंगा की सफाई का मामला करोड़ों लोगों के जीवन, रोजगार और आस्था से भी जुड़ा है।

Date: 14-07-17

विधायिका का दामन

एक जनहित याचिका पर चल रही सुनवाई के कारण राजनीति के अपराधीकरण का मुद्दा एक बार फिर चर्चा का विषय बना है। अलबत्ता इस पर राजनीतिक दल फिलहाल खामोश हैं, जो इस स्थिति के लिए सबसे ज्यादा जवाबदेह हैं। याचिका पर सुनवाई करते हुए सर्वोच्च अदालत ने दोषी ठहराए गए कानून निर्माताओं यानी सांसदों व विधायकों को आजीवन चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित करने के सवाल पर अस्पष्ट रवैया अपनाने के लिए निर्वाचन आयोग को आड़े हाथों लिया और कहा कि इस मामले में आयोग खामोश नहीं रह सकता है। दरअसल, इस मामले में दाखिल किए अपने हलफनामे में आयोग ने कहा था कि वह राजनीति को अपराधीकरण से मुक्त करने की हद तक प्रस्तुत याचिका का समर्थन करता है। पर साफ है कि यह बयान गोलमोल है, और इसमें असल सवाल से किनारा कर लिया गया है। याचिकाकर्ता ने मांग की है कि जिस तरह किसी न्यायिक अधिकारी या नौकरशाह को अदालत से दोषी सिद्ध होने पर हमेशा के लिए नौकरी से प्रतिबंधित कर दिया जाता है, वैसा ही कानून जनप्रतिनिधियों की बाबत भी होना चाहिए। इस पर सुनवाई के सिलसिले में सर्वोच्च अदालत ने केंद्र सरकार और निर्वाचन आयोग से अपना पक्ष रखने को कहा था।

केंद्र ने तो याचिका में की गई मांग को अनुचित बताते हुए उसे खारिज कर देने का अनुरोध किया, पर आयोग ने अपने हलफनामे में जो कुछ कहा उससे उसकी सदाशयता भले झलकती हो, यह नहीं पता चलता कि उसका रुख क्या है। इस पर अदालत की नाराजगी स्वाभाविक थी। अदालत ने झुंझलाते हुए यह तक कहा कि अगर विधायिका में बैठे लोगों की तरफ से आयोग की कोई विवशता है, या अपना दृष्टिकोण बताने में लाचार है, तो वह भी बताए। अब आयोग ने एक पूरक हलफनामा पेश करने का इरादा जताया है। उससे अदालत को तसल्ली होगी या नहीं, यह बाद में पता चलेगा, पर इस मामले में आयोग की सीमा या कठिनाई समझी जा सकती है। एक तरफ उसके अधिकारों की रक्षा करने की गारंटी संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को दे रखी है, पर दूसरी तरफ, संवैधानिक और स्वायत्त संस्था होने के बावजूद निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति केंद्र सरकार करती है। दोषी ठहराए गए विधायक और सांसद को ताउम्र चुनाव लड़ने से नाकाबिल ठहराने की मांग केंद्र खारिज कर चुका है। ऐसे में आयोग की मुश्किल का अंदाजा लगाया जा सकता है। लेकिन यह भी स्वीकार करना होगा कि याचिका में एक नेक मकसद पेश तो कर दिया गया है, पर चुनौतियों और जटिलताओं को समझे बगैर। यह सही है कि आज विधायिका में ऐसे भी लोग हैं जिनके खिलाफ अदालतों में आपराधिक मामले लंबित हैं। पर सरकारी नौकरी और विधायिका की सदस्यता में फर्क है।

विधायिका की सदस्यता केवल निजी इच्छा या निजी काबिलियत की देन नहीं है, वह जन-इच्छा की देन है, मतदाताओं का फैसला है। इसीलिए विधायिका की सदस्यता के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता की शर्त नहीं रखी गई है, जो नौकरी में अनिवार्य है। कुछ लोग संसद या विधानसभा में हंगामे के मद््देनजर यह सलाह देते हैं कि काम नहीं तो वेतन (या भत्ता) नहीं का सिद्धांत लागू किया जाए। पर सांसद या विधायक का काम विधेयकों व प्रस्तावों का समर्थन ही करते जाना नहीं होता, बल्कि सरकार के अनुचित फैसलों तथा गलत नीतियों का विरोध करना भी होता है। इसलिए विधायिका की सदस्यता को सरकारी नौकरी की तरह देखने का आग्रह कभी नहीं होना चाहिए। हां, सर्वोच्च न्यायालय ने ठीक सुझाया है कि जनप्रतिनिधियों, नौकरशाहों तथा न्यायिक अधिकारियों पर लगे आरोपों पर सुनवाई के लिए विशेष अदालतें गठित हों, ताकि ऐसे मामलों का तेजी से निपटारा हो सके।

Date: 14-07-17

सोशल मीडिया का चिंताजनक इस्तेमाल

रिजवान निजामुद्दीन अंसारी

वाणी की स्वतंत्रता तथा अभिव्यक्ति का मौलिक अधिकार लोकतंत्र की बुनियाद है। इस अधिकार के उपयोग की खातिर सोशल मीडिया ने जो असीम अवसर नागरिकों को दिए हैं, एक दशक पूर्व उसकी कल्पना भी किसी को नहीं रही होगी। इस मंच के माध्यम से समाज में बदलाव की बयार लाई जा सकती है। इसके माध्यम से अण्णा आंदोलन का प्रचार, निर्भया कांड के बाद यौनहिंसा के खिलाफ एक प्रबल आंदोलन, रोहित वेमुला प्रकरण पर छात्रों की लामबंदी जैसे प्रयोग जहां सफल रहे, वहीं दूसरी ओर इसके माध्यम से दुष्प्रचार करने, धमकाने, गलतफहमी फैलाने, गलत खबरें या अफवाहें फैलाने, निंदा अभियान चलाने, चरित्र हनन करने और समाज में तनाव पैदा करने की घटनाएं भी हो रही हैं। कहना मुश्किल है कि सोशल मीडिया का सकारात्मक इस्तेमाल ज्यादा हो रहा है, या नकारात्मक, पर यह तो साफ दिखता है कि इस माध्यम का दुरुपयोग पहले से बढ़ा है।पश्चिम बंगाल में इन दिनों सांप्रदायिक सौहार्द के बिगड़ने से सोशल मीडिया के दुुरुपयोग की तरफ एक बार फिर ध्यान गया है, या जाना चाहिए। एक तरफ हमारी सरकार डिजिटल इंडिया जैसे कार्यक्रम लाकर देश की तस्वीर बदलने का प्रयास कर रही है, तो दूसरी तरफ हम इस कार्यक्रम के एक महत्त्वपूर्ण हिस्से का दुरुपयोग कर सरकार और देश को ही चुनौती देने का काम कर रहे हैं। इसे परिवर्तन और सुधार का सशक्त माध्यम बनाने के बजाय कुछ लोग यदि नफरत और हिंसा फैलाने पर उतारू हैं तो यकीन मानिए कि वे देश को गर्त में ले जाने की कोशिश कर रहे हैं। कौन हैं ये लोग? इनके पीछे कौन लोग हैं? वे जो हों, हममें इस बात की पहचान होनी चाहिए कि कौन-सी प्रवृत्तियां, कौन-से रुझान, किस तरह की गतिविधियां, किस तरह के अभियान देश को उन्नति की तरफ ले जाएंगे और कौन-से बर्बादी की तरफ।पश्चिम बंगाल पहली मिसाल नहीं है। सोशल मीडिया के सहारे माहौल खराब करने की कोशिशों की एक लंबी फेहरिस्त है। उत्तर प्रदेश, बिहार, कश्मीर, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, ओड़िशा जैसे राज्य किसी न किसी रूप में सोशल मीडिया से आहत हुए हैं। हाल ही में ओड़िशा के भद्रक और उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में सांप्रदायिक दंगे सोशल मीडिया के कारण ही हुए। बहुचर्चित मुजफ्फरनगर दंगा कौन नहीं जानता? यह तो एक बानगी भर है। सोशल मीडिया के कारण देश के विभिन्न हिस्सों में कोई न कोई चिंताजनक घटना आए दिन घटती रहती है। फेसबुक के अनुसार, पिछले वर्ष जुलाई से दिसंबर तक की अवधि में भारत में 719 आपत्तिजनक कथ्य (कंटेंट्स) हटाए गए। ये वे कथ्य थे जो उन कानूनों का उल्लंघन करते थे जो धार्मिक भावनाएं आहत करने और राष्ट्रीय प्रतीकों का अपमान करने के खिलाफ बने हैं। इससे बहुत ज्यादा कथ्य ऐसे थे जो आपत्तिजनक तो थे, पर जिन्हें हटाना कानूनन आवश्यक नहीं समझा गया। एक छोटी-सी अवधि में इतनी बड़ी संख्या में आपत्तिजनक सामग्री का होना सोशल मीडिया के एक बड़े दुरुपयोग की तरफ इशारा करता है। ऐसे में बड़ा सवाल यह है कि सोशल मीडिया का दुरुपयोग करके हम क्या हासिल करना चाहते हैं? इसका अनैतिक इस्तेमाल करके हम आने वाली पीढ़ियों के लिए कैसी जमीन तैयार कर रहे हैं?पश्चिम बंगाल की घटना से हमारी दो कमजोरियों का पता चलता है। पहली यह कि हमारे आपसी संबंध इतने कमजोर और खोखले हो चुके हैं कि एक नाबालिग लड़के के एक फेसबुक पोस्ट से ही हमारी भावनाएं आहत हो जाती हैं। क्या हम इतने असहिष्णु हो गए हैं कि अपने विवेक का इस्तेमाल करना भी हमें गवारा नहीं? दूसरी कमजोरी यह कि सोशल मीडिया पर अभिव्यक्ति की आजादी का प्रयोग कर हमें विभिन्न समस्याओं पर आवाज बुलंद करनी चाहिए, लेकिन इसे हम धार्मिक सौहार्द को बिगाड़ने का तंत्र बना रहे हैं। हमें देश की वास्तविक समस्याएं नजर नहीं आ रही हैं। देश को विकास की राह पर ले जाने का सुझाव देना हमें कतई पसंद नहीं, लेकिन मसले को धार्मिक रंग देना हमारी नियति बन गई है। नतीजतन, हम सामाजिक ताने-बाने को तोड़ते हैं, साथ ही विकास के मार्ग में रुकावट भी बनते हैं। सवाल है कि हम देश के जायज मुद्दों और राजनीति के गिरते स्तर को लेकर अपनी आंखें क्यों मूंद लेते हैं?

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 14-07-17

By a thousand cuts

CBFC culls in a documentary on Amartya Sen reflect a sobering pattern — of the curbing of argument, intolerance of dissent.

Under the stewardship of Pahlaj Nihalani, the Central Board of Film Certification is going where no censor has dreamt of going before. From being a habitual objector to allegedly lurid images and bad language, it has graduated to being affrighted by everyday words and phrases. It has demanded the removal of terms like "Hindu India", "Gujarat" and "cow" from The Argumentative Indian, a documentary on Amartya Sen. The organisation, set up to protect the public from the excesses of potboiler cinema, now presumes to cull the thoughts of one of India's foremost public intellectuals.The CBFC's censoring of "Gujarat" and "cow" is the stuff of stereotypes about banana republics, but its presumption is no laughing matter. Presumably, it enjoys government support. The Ministry of Information and Broadcasting selects the board members and the chairman, and Nihalani's appointment has been controversial. Immediately after assuming office, he had expressed profuse admiration for the prime minister, and board members had resigned en masse on account of his apparent proximity to the ruling party, the BJP. "Gujarat" is not the first place name that the board has objected to, and tried to scrub out. Nihalani had earlier issued a list of banned terms which included "Bombay".The arbitrariness had caused the CBFC much embarrassment when the list was leaked. The board, under him, ordered multiple deletions in Udta Punjab including references to "Punjab".

The bizarre demand for surgery on a documentary could be seen as part of a general phenomenon which is narrowing the spectrum of thought and expression by a thousand cuts. This government has been seen to be impatient with its critics, and the effects have been visible from the time of the "award wapsi" of 2015, when many in the creative community rejected state recognition. It has allowed a disabling environment to develop which favours authorised versions, and in which the curbing or trashing of alternative opinions has gone unchecked. In the creative domain, the hounding of authors and filmmakers has been damaging for democracy. Nihalani himself has shown an unhealthy enthusiasm for censoring rather than certifying, which is the statutorily defined purpose of the CBFC. This has a stifling effect on creative expression in cinema, reflecting the attenuation of the public discourse. He, and his board, would be well advised to consider Sen's warning in The Argumentative Indian — the book, not the documentary: "Nor let us be resentful when others differ from us... Their right is our wrong, and our right is their wrong."

THE HINDU

Date: 14-07-17

It's not help, it's work

We need a legislation to regulate domestic work

Employing a help in house? Only after verification," says the ad's headline. Below, in capital letters, appears a warning: "An unverified domestic help can pose a serious security risk." And then a call to action: "Contact your beat constable or local police station for domestic help verification."The copy is set against a visual of a cop taking a picture of a young girl, presumably the domestic help, while an elderly woman, her employer, looks on. The girl picked to represent the 'domestic help' has the features of an adivasi, is slightly built, and dark-complexioned. She is shown standing, in one corner of the frame, while the cop and her employer are seated.Readers of English newspapers would be familiar with this ad campaign, urging them to get their domestic helps verified by the police. Of late, these ads have become a matter of great concern for unions, domestic workers, and social activists, who say the campaign reeks of class prejudice.

But what they find most objectionable is the criminalisation of people on the basis of their occupation. Copies of so-called police verification forms are doing the rounds of housing societies across Delhi. Domestic workers are being made to fill up the form and submit them to the nearest police station.The data sought by the form includes, among other things, the domestic help's "petwords of speech", "physical built", "complexion" and "handwriting specimen", besides descriptions of eyes, hair, tattoo marks, and prints of all the fingers of both hands. No such information is sought about the employer, despite there being ample evidence to suggest that the security threat works the other way too.Indeed, hardly a week goes by without some news report about a domestic help being abused by her employer. Cases of torture, beatings, sexual assault, and incarceration are common. If anything, one could argue that in this sector, it is the employer who poses a bigger security threat — to the employee.

Lack of recognition

For the record, no other category of workers is required to register themselves with the police. In a country where 93% of the workforce is in the unorganised sector and therefore beyond the purview of most labour laws, domestic workers represent a new low in terms of disempowerment: they are not even recognised as workers. Their work — cooking, cleaning, dish-washing, baby-sitting — is not recognised as work by the state. Criminalisation is thus the last straw.

India has only two laws that, in a roundabout way, construe domestic helps as workers. The Unorganised Workers' Social Security Act, 2008, (UWSSA) and the Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition and Redressal) Act, 2013. While the former is a social welfare scheme, the latter is aims to protect working women in general. Neither of these recognises domestic helps as rights-bearing workers.Yet this recognition is a necessary pre-condition for state regulation. Strangely enough, it exists — in the form of a draft National Policy for Domestic Workers. This policy not only calls for promoting awareness of domestic work as a "legitimate labour market activity", but also recommends amending existing labour laws to ensure that domestic workers enjoy all the labour rights that other workers do. But the government seems to be in no hurry to adopt it.Domestic work as an economic activity is too vast and employs too many to remain unregulated. Though the 2011 NSSO data put the number of domestic workers at 3.9 million, trade unions estimate the number to be around 10 million. Most of these are from vulnerable communities – Adivasis, Dalits

or landless OBCs. Nearly all of them are migrant workers. And an overwhelming number are women.The apparently endless supply of domestic workers has a lot to do with the decline of employment opportunities in the agriculture and manufacturing sectors, which took a hit post-2008. At the same time, demand kept rising, as the entry of middle class and upper middle class women into the male-dominated world of work was not matched in scale by a corresponding entry of men into the (feminised) realm of unpaid housework.Poorer women from the hinterlands stepped in to fill the labour gap, for some remuneration. Today, the economic value of housework is no longer disputed. But the nexus of the state and the market has managed to keep domestic work outside the realm of economic regulation. Neither the Maternity Benefits Act nor the Minimum Wages Act or any of the scores of other labour laws apply to domestic work. Domestic workers can be hired and fired at will. The employer has no legally binding obligations.

A regulatory framework

Some have attempted to justify the government's reluctance to regulate domestic work on the grounds that the workplace is a private household which should not be encroached upon by the state. But this argument does not hold since the anti-sexual harassment law recognises the private household as a workplace. Besides, we already have a draft legislation that presents a model for regulating domestic work without inviting the state into the living room, as it were.

The National Platform for Domestic Workers submitted a draft bill, the Domestic Workers Regulation of Work and Social Security Bill, 2016, to the government in January. Going beyond state-centric welfare measures, it calls for the compulsory registration of the employer and the employee with the District Board for regulation of domestic workers. Unlike the UWSSA, which puts the onus on the state, it mandates the collection of cess from the employer for the maintenance of a social security fund for domestic workers, whose access would be mediated through an identity card.This framework achieves both the objectives of police verification — security, and documentation of identification data. But in a refreshing contrast, it does so not by criminalising domestic helps but by empowering them as rights-bearing workers.Thus, to view domestic workers as a security threat is but another way of denying them the status of workers. The policy mindset regarding domestic workers must shift from a law-and-order paradigm to one about workers' rights. A good place to start would be to consider enacting a Domestic Workers Regulation of Work and Social Security Act.